

Original Article

समावेशी शिक्षा में दिव्यांग बालिकाओं के सामने आने वाली विशिष्ट लैंगिक चुनौतियां: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन हेतु साहित्य सर्वेक्षण

Sukeshini Jaipal Khobragade

Assistant Prof. Department of Special Education Madhav University (Sihori) Aburoad, Rajasthan

Email: sukeshinikhobragade@gmail.com

Manuscript ID:

सारांश

JRD -2026-180211

ISSN: 2230-9578

Volume 18

Issue 2(A)

Pp. 47-55

February - 2026

Submitted: 16 Jan. 2026

Revised: 26 Jan. 2026

Accepted: 11 Feb. 2026

Published: 28 Feb. 2026

यह साहित्य सर्वेक्षण भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों से प्राप्त शोध प्रबंधों के आधार पर समावेशी शिक्षा प्रणाली में दिव्यांग बालिकाओं द्वारा सामना की जाने वाली विशिष्ट लैंगिक, सामाजिक और ढांचागत चुनौतियों का समाजशास्त्रीय विश्लेषण प्रस्तुत करता है। अध्ययन स्पष्ट करता है कि नीतिका मेहरोत्रा के 'प्रतिच्छेदन' और 'सामाजिक बहिष्कार' के सिद्धांतों के परिप्रेक्ष्य में, केवल शारीरिक विकलांगता ही शिक्षा में बाधा नहीं है, बल्कि पितृसत्तात्मक मूल्य, संस्थागत जेंडर, और जातिगत वंचना मिलकर एक तिहरे हाशिएकरण का निर्माण करते हैं। शोध निष्कर्ष दर्शाते हैं कि सरकारी नीतियों के बावजूद, विद्यालयों में सहायक तकनीक का अभाव, शिक्षकों के अपर्याप्त प्रशिक्षण, सहपाठियों द्वारा अस्वीकृति, और परिवारों के रूढ़िवादी दृष्टिकोण के कारण समावेशी शिक्षा का यथार्थ कागजी दावों से बहुत दूर है। दृष्टिबाधित, श्रवणबाधित और अस्थिबाधित बालिकाओं की भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक और संचार संबंधी आवश्यकताओं की अनदेखी उनके उच्च शिक्षा और आर्थिक स्वावलंबन के मार्ग को अवरुद्ध करती है। अतः, समावेशी शिक्षा की सफलता के लिए 'चिकित्सीय मॉडल' से आगे बढ़कर मानवाधिकार पर आधारित 'सामाजिक मॉडल' को अपना अपरिहार्य है।

मुख्य शब्द: समावेशी शिक्षा, दिव्यांग बालिकाएं, प्रतिच्छेदन, सामाजिक बहिष्कार, लैंगिक असमानता, समाजशास्त्रीय अध्ययन।

प्रस्तावना

समावेशी शिक्षा, विकलांगता और लैंगिक विमर्श का समाजशास्त्रीय आधार समकालीन समाजशास्त्र और शिक्षाशास्त्र के अंतर्संबंधी अध्ययन में 'समावेशी शिक्षा' एक अत्यंत महत्वपूर्ण और जटिल विमर्श बन चुका है। सैद्धांतिक रूप से, समावेशी शिक्षा का मुख्य उद्देश्य एक ऐसे शैक्षिक पर्यावरण का निर्माण करना है जहां शारीरिक, मानसिक, सामाजिक या आर्थिक रूप से भिन्न सभी बच्चों को मुख्यधारा की शिक्षा में समान अवसर प्राप्त हों। हालांकि, भारतीय समाज के गहरे स्तरीकरण, पितृसत्तात्मक संरचनाओं और सामाजिक-सांस्कृतिक रूढ़ियों के संदर्भ में जब इस नीतिगत ढांचे का मूल्यांकन किया जाता है, तो इसकी जमीनी हकीकत अत्यंत विरोधाभासी प्रतीत होती है। विशेष रूप से जब हम इस विमर्श को 'दिव्यांगता' और 'जेंडर' के प्रतिच्छेदी लेंस से देखते हैं, तो एक बालिका के रूप में जन्म लेना और साथ ही विकलांगता का शिकार होना, वंचना और हाशिएकरण के एक ऐसे दोहरे चक्र को जन्म देता है, जिसे भेद पाना वर्तमान शैक्षिक संरचनाओं के लिए एक गंभीर चुनौती बना हुआ है। अग्रस्तुत साहित्य सर्वेक्षण भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों के शोधार्थियों द्वारा प्रस्तुत किए गए महत्वपूर्ण शोध प्रबंधों के गहन विश्लेषण पर आधारित है। इस रिपोर्ट का प्राथमिक उद्देश्य समावेशी शिक्षा प्रणाली में दिव्यांग बालिकाओं द्वारा सामना की जाने वाली विशिष्ट लैंगिक, मनोवैज्ञानिक, ढांचागत और सामाजिक चुनौतियों का एक सर्वांगीण समाजशास्त्रीय मूल्यांकन प्रस्तुत करना है।

Creative Commons (CC BY-NC-SA 4.0)

This is an open access journal, and articles are distributed under the terms of the [Creative Commons Attribution-NonCommercial-ShareAlike 4.0 International](https://creativecommons.org/licenses/by-nc-sa/4.0/) Public License, which allows others to remix, tweak, and build upon the work noncommercially, as long as appropriate credit is given and the new creations are licensed under the identical terms.

Address for correspondence:

Sukeshini Jaipal Khobragade, Assistant Prof. Department of Special Education Madhav University (Sihori) Aburoad, Rajasthan

How to cite this article:

Khobragade, S. J. (2026). समावेशी शिक्षा में दिव्यांग बालिकाओं के सामने आने वाली विशिष्ट लैंगिक चुनौतियां: एक समाजशास्त्रीय अध्ययन हेतु साहित्य सर्वेक्षण. Journal of Research & Development, 18(2(A)), 47–55. <https://doi.org/10.5281/zenodo.18885678>



Quick Response Code:



Website:

<https://jrdrvb.org/>

DOI:

[10.5281/zenodo.18885678](https://doi.org/10.5281/zenodo.18885678)



इन शोध प्रबंधों का भौगोलिक विस्तार कश्मीर की घाटियों से लेकर अरुणाचल प्रदेश के दुर्गम इलाकों तक, और पंजाब-हरियाणा के कृषि-प्रधान समाजों से लेकर दिल्ली और पश्चिम बंगाल के महानगरीय व अर्ध-शहरी क्षेत्रों तक फैला हुआ है। यह विविधता हमें यह समझने में सक्षम बनाती है कि कैसे क्षेत्रीय संस्कृतियाँ, स्थानीय अर्थव्यवस्थाएँ और राज्य-विशिष्ट नीतियाँ दिव्यांग बालिकाओं की शिक्षा और उनके सामाजिक एकीकरण को प्रभावित करती हैं।

भारत में विकलांगता और शिक्षा को लंबे समय तक एक 'चिकित्सकीय समस्या' या 'धर्मार्थ कार्य' के रूप में देखा जाता रहा है। लेकिन, जिन शोधकर्ताओं के कार्यों का यहाँ विश्लेषण किया गया है, उन्होंने इसे एक 'मानवाधिकार' और 'सामाजिक न्याय' के मुद्दे के रूप में पुनर्स्थापित किया है²¹। एक दिव्यांग बालिका को केवल उसकी शारीरिक अक्षमताओं के कारण शिक्षा से वंचित नहीं किया जाता, बल्कि इसके पीछे समाज का वह संस्थागत जेंडर और सक्षमवाद कार्य करता है, जो महिलाओं की सामाजिक उपयोगिता को केवल उनके शारीरिक सौन्दर्य, विवाह और मातृत्व की क्षमता से मापता है⁴¹। जब एक दिव्यांग बालिका इन रूढ़िवादी मानकों पर खरी नहीं उतरती, तो परिवार, समुदाय और यहाँ तक कि विद्यालय प्रशासन भी उसकी शिक्षा पर निवेश करने को 'व्यर्थ' मानने लगते हैं।

इस सर्वेक्षण में हम यह जांचेंगे कि कैसे परिवार के भीतर शुरू होने वाला भेदभाव, विद्यालयों की असंवेदनशील संरचनाओं, शिक्षकों के अपर्याप्त प्रशिक्षण, और साथियों की अस्वीकृति के माध्यम से एक संस्थागत रूप ले लेता है। इसके अतिरिक्त, विभिन्न प्रकार की विकलांगताओं (जैसे- दृष्टिबाधिता, श्रवणबाधिता, और अस्थिबाधिता) के आधार पर बालिकाओं की विशिष्ट शैक्षिक और मनोवैज्ञानिक आकांक्षाओं का भी समाजशास्त्रीय विश्लेषण किया जाएगा।

वैचारिक एवं सैद्धांतिक रूपरेखा: विकलांगता और जेंडर का प्रतिच्छेदन

किसी भी समाजशास्त्रीय अध्ययन की नींव उसके सैद्धांतिक दृष्टिकोण में निहित होती है। समावेशी शिक्षा में दिव्यांग बालिकाओं की स्थिति को समझने के लिए पारंपरिक 'चिकित्सीय मॉडल' को खारिज करते हुए 'सामाजिक मॉडल' और 'प्रतिच्छेदन' के सिद्धांतों को अपनाना अपरिहार्य है।

1 नीतिका मेहरोत्रा का प्रतिच्छेदन सिद्धांत और 'अदृश्य पहचान'

जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय की शोधार्थी नीतिका मेहरोत्रा (2011) का शोध प्रबंध भारतीय विकलांगता अध्ययन के क्षेत्र में एक प्रतिमान विस्थापन का प्रतिनिधित्व करता है। मेहरोत्रा का कार्य स्पष्ट रूप से दर्शाता है कि कैसे भारत में मुख्यधारा के नारीवादी आंदोलनों और समाजशास्त्रीय विमर्शों ने लंबे समय तक विकलांग महिलाओं के अनुभवों को पूरी तरह से अनदेखा किया।

किम्बर्ले क्रेणों के 'प्रतिच्छेदन' के सिद्धांत का उपयोग करते हुए, मेहरोत्रा यह तर्क देती हैं कि विकलांगता को जेंडर, जाति और वर्ग जैसी अन्य अस्मिताओं से अलग करके नहीं देखा जा सकता³¹। एक सवर्ण, शहरी, और सक्षम-शरीर वाले पुरुष का शैक्षिक अनुभव एक ग्रामीण, दलित और दृष्टिबाधित बालिका के अनुभव से पूर्णतः भिन्न होगा। जब जेंडर और विकलांगता आपस में मिलते हैं, तो यह केवल दो प्रकार के उत्पीड़नों का जोड़ नहीं होता, बल्कि यह वंचना का एक बिल्कुल नया और उग्र रूप पैदा करता है। मेहरोत्रा की यह सैद्धांतिक रूपरेखा हमें यह समझने में मदद करती है कि समावेशी शिक्षा नीतियाँ अक्सर इसलिए विफल हो जाती हैं क्योंकि वे 'विकलांगता' को एक समरूप श्रेणी मान लेती हैं, और उसमें निहित गहरे लैंगिक और जातीय विभाजनों को पहचानने में असमर्थ रहती हैं।

2 सामाजिक बहिष्कार का सिद्धांत

आशिया (2016) द्वारा कश्मीर घाटी में दिव्यांग महिलाओं के सामाजिक बहिष्कार पर किया गया समाजशास्त्रीय अध्ययन इस विमर्श को और गहराई प्रदान करता है। आशिया के अनुसार, जेंडर और विकलांगता दोनों ही शारीरिक बाधाएँ हैं जिन्हें समाज द्वारा सांस्कृतिक अर्थ दिए जाते हैं। पितृसत्तात्मक समाज में, 'पौरुष' को शारीरिक शक्ति, उत्पादन क्षमता और स्वायत्तता से जोड़ा जाता है, जबकि 'स्त्रीत्व' को सुंदरता, शारीरिक आकर्षण, देखभाल करने की क्षमता और सफल मातृत्व के मानकों पर परखा जाता है।

एक दिव्यांग महिला इन पारंपरिक रूढ़ियों के ढाँचे में फिट नहीं बैठती। समाज उसे एक "असहाय और निराश" व्यक्ति के रूप में देखता है, जो एक आदर्श पत्नी या आदर्श माँ की भूमिका निभाने में असमर्थ है। आशिया का शोध यह स्थापित करता है कि यह सामाजिक दृष्टिकोण दिव्यांग बालिकाओं को शिक्षा के अधिकार से वंचित करने का प्राथमिक कारण है। जब समाज मान लेता है कि यह बालिका भविष्य में विवाह योग्य नहीं है या परिवार के लिए कोई आर्थिक/सामाजिक पूंजी उत्पन्न नहीं कर सकती, तो शिक्षा पर किया जाने वाला कोई भी निवेश अनुत्पादक मान लिया जाता है।

कुमार, जी. द्वारा विद्यालयों में विकलांग बच्चों के सामाजिक बहिष्कार और समावेशन पर किया गया अध्ययन भी इसी सिद्धांत की पुष्टि करता है। कुमार के निष्कर्ष इंगित करते हैं कि बहिष्कार केवल भौतिक नहीं होता; यह मनोवैज्ञानिक और संस्थागत भी होता है। जब एक

स्कूल दिव्यांग बालिका को प्रवेश तो दे देता है, लेकिन उसे सामान्य गतिविधियों, खेल-कूद और सांस्कृतिक कार्यक्रमों से अलग रखता है, तो वह व्यवस्था के भीतर रहकर भी पूरी तरह से बहिष्कृत होती है।

सैद्धांतिक दृष्टिकोण	मुख्य प्रवर्तक/अध्ययन	समाजशास्त्रीय व्याख्या
चिकित्सीय मॉडल	पारंपरिक दृष्टिकोण (आलोचित)	विकलांगता को व्यक्ति की एक शारीरिक 'कमी' माना जाता है, जिसे 'ठीक' करने की आवश्यकता है। यह समाज की भूमिका को नकारता है।
सामाजिक मॉडल	मेहरोत्रा (2011)	व्यक्ति अपनी शारीरिक स्थिति के कारण नहीं, बल्कि समाज द्वारा निर्मित बाधाओं और वैचारिक बाधाओं के कारण 'विकलांग' होता है।
प्रतिच्छेदन	मेहरोत्रा (2011), बर्मन (2015)	जेंडर, जाति, गरीबी और विकलांगता का संचयी प्रभाव एक विशिष्ट प्रकार के हाशिएकरण को जन्म देता है, जिसका सामना केवल नीतिगत बदलाव से नहीं हो सकता।
संस्थागत जेंडर	झूपॉन्ट और अन्य (2022)	स्कूलों और कार्यस्थलों की पूरी संरचना पुरुष-प्रधान और सक्षम-शरीर केंद्रित होती है, जो स्वतः ही दिव्यांग बालिकाओं को व्यवस्था से बाहर धकेल देती है।
सामाजिक बहिष्कार	आशिया (2016), कुमार, जी.	दिव्यांग महिलाओं को पारंपरिक लैंगिक भूमिकाओं में 'अयोग्य' मानकर परिवार और मुख्यधारा के समाज से जानबूझकर अलग-थलग कर दिया जाता है।

3 शिक्षा में लैंगिक असमानता

दास, पी. ने विशेष आवश्यकता वाले बच्चों की शिक्षा में लैंगिक असमानता का विघ्नेषणात्मक अध्ययन किया। उनके शोध से यह निष्कर्ष उभरता है कि विकलांग लड़कों की तुलना में विकलांग लड़कियों की शिक्षा में ड्रॉपआउट दर कहीं अधिक है। माता-पिता एक विकलांग बेटे की शिक्षा पर फिर भी पैसा खर्च करने को तैयार हो जाते हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि शिक्षा उसे आत्मनिर्भर बनाएगी। लेकिन एक विकलांग लड़की के मामले में, सुरक्षा संबंधी चिंताएं, यौन शोषण का डर, और 'पराया धन' की मानसिकता उसे स्कूल की चौखट तक पहुँचने से पहले ही रोक देती है।

समावेशी शिक्षा का यथार्थ: नीति और अभ्यास के बीच की खाई

भारत सरकार ने समावेशी शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए कई महत्वाकांक्षी नीतियां लागू की हैं, जिनमें सर्व शिक्षा अभियान, शिक्षा का अधिकार अधिनियम, और हाल ही में राष्ट्रीय शिक्षा नीति शामिल हैं¹। इन नीतियों का दावा है कि किसी भी विशेष आवश्यकता वाले बच्चे को मुख्यधारा के स्कूलों में प्रवेश से वंचित नहीं किया जा सकता। लेकिन जब हम विभिन्न शोध प्रबंधों के माध्यम से जमीनी हकीकत का मूल्यांकन करते हैं, तो एक भयावह समाजशास्त्रीय तस्वीर सामने आती है।

1 उत्तर प्रदेश का परिदृश्य: 'सद्भावना' का विरोधाभास

सरिता यादव (2017) ने उत्तर प्रदेश में समावेशी शिक्षा की जमीनी हकीकत और लैंगिक असमानता का अत्यंत महत्वपूर्ण समाजशास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया (बनारस हिंदू विश्वविद्यालय)। यादव और विश्व बैंक के आंकड़ों का हवाला देते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि भारत में आज भी लगभग 3 करोड़ बच्चे स्कूल से बाहर हैं¹। इस बहिष्कार के मूल में जो चार प्रमुख कारक हैं, वे गरीबी, जेंडर, विकलांगता और जाति हैं।

यादव के शोध से प्राप्त जमीनी रिपोर्ट यह साबित करती है कि 'पूर्ण समावेशन' केवल एक सैद्धांतिक भ्रम है। आरटीई एक्ट के तहत कानूनी बाध्यता होने के बावजूद, सामान्य स्कूल दिव्यांग बालिकाओं को प्रवेश न देने के लिए विभिन्न रणनीतियों का उपयोग करते हैं। जब माता-पिता अपनी दिव्यांग बच्ची को लेकर स्कूल जाते हैं, तो स्कूल प्रशासन अक्सर उन्हें यह कहकर वापस लौटा देता है कि बच्चा कक्षा के पाठ्यक्रम और गति के साथ तालमेल नहीं बिठा पाएगा, या स्कूल में उचित रैंप, विशेष शौचालय और संसाधन नहीं हैं।

इससे भी अधिक चौंकाने वाला समाजशास्त्रीय निष्कर्ष यह है कि कई प्रतिष्ठित सामान्य स्कूलों का प्रशासन यह मानता है कि दिव्यांग बच्चों, विशेषकर बालिकाओं, के प्रवेश से उनके संस्थान की "सद्भावना" या प्रतिष्ठा को ठेस पहुंचेगी¹। यह शिक्षा के पूर्ण व्यापारीकरण और

पूँजीवादी मानसिकता का प्रत्यक्ष परिणाम है, जहाँ 'मेरिट', 'प्रतिस्पर्धा' और 'परफेक्ट रिजल्ट' को मानवाधिकारों और सामाजिक न्याय से ऊपर रखा जाता है। इस संस्थागत उपेक्षा और अपमान का परिणाम यह होता है कि माता-पिता थक-हारकर अपनी बालिकाओं को या तो विशेष स्कूलों में भेज देते हैं, जहाँ उन्हें 'आसानी' महसूस होती है, या फिर पूरी तरह से शिक्षा प्रणाली से बाहर निकाल लेते हैं।

2 दिल्ली का महानगरीय अनुभव

जोहरी, जे. (2014) ने जामिया मिलिया इस्लामिया से दिल्ली जैसे महानगर में विशेष आवश्यकता वाले बच्चों के लिए समावेशी शिक्षा की नीति और व्यवहार का अध्ययन किया। शहरी क्षेत्रों में आधारभूत ढांचे की स्थिति ग्रामीण क्षेत्रों से बेहतर होने की उम्मीद की जाती है। हालांकि, जोहरी का अध्ययन यह दर्शाता है कि महानगरीय परिवेश में भी समावेशी शिक्षा का 'मानवाधिकार-आधारित दृष्टिकोण' पूरी तरह से लागू नहीं हुआ है।

दिल्ली के स्कूलों में नीतियां मौजूद हैं, लेकिन कक्षाओं के भीतर का सूक्ष्म-वातावरण अभी भी भेदभावपूर्ण है। जोहरी के निष्कर्ष बताते हैं कि समावेशी शिक्षा का मूल विचार यह है कि प्रत्येक छात्र को अपनी आवश्यकता के अनुसार सम्मान, मूल्य और स्वीकृति महसूस होनी चाहिए। लेकिन शहरी स्कूलों में अत्यधिक प्रतिस्पर्धा के कारण दिव्यांग बालिकाओं को अक्सर उपेक्षित महसूस कराया जाता है। शिक्षा प्रणाली अभी भी मानकीकृत परीक्षणों पर इतनी अधिक निर्भर है कि वह विविध अधिगम शैलियों को समायोजित करने में विफल रहती है।

3 अरुणाचल प्रदेश का दुर्गम यथार्थ

भौगोलिक और क्षेत्रीय असमानताओं के प्रभाव को समझने के लिए कुसुम बबला (2017) का अरुणाचल प्रदेश के प्रारंभिक स्कूलों पर किया गया आलोचनात्मक अध्ययन अत्यंत प्रासंगिक है। पूर्वोत्तर भारत की भौगोलिक संरचना अत्यंत दुर्गम है। बबला का शोध यह रेखांकित करता है कि पहाड़ी और दूरदराज के इलाकों में समावेशी शिक्षा प्रथाओं का क्रियान्वयन मैदानी इलाकों की तुलना में कई गुना अधिक चुनौतीपूर्ण है।

पहाड़ी क्षेत्रों में परिवहन की भारी कमी होती है। एक सामान्य बच्चे के लिए भी स्कूल तक पहुंचना एक संघर्ष होता है, ऐसे में एक अस्थिबाधित या दृष्टिबाधित बालिका के लिए स्कूल जाना लगभग असंभव हो जाता है। इसके अतिरिक्त, राज्य के सुदूर क्षेत्रों में विशेष रूप से प्रशिक्षित शिक्षकों और सहायक उपकरणों की आपूर्ति श्रृंखला पूरी तरह से टूटी हुई है। बबला का यह अध्ययन इस बात की पुष्टि करता है कि कोई भी 'राष्ट्रीय नीति' तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक वह स्थानीय भूगोल और क्षेत्रीय विषमताओं को ध्यान में न रखे।

ग्रामीण और कृषि-प्रधान समाजों में सामाजिकरण और रूढ़िवादिता

भारत की आत्मा गांवों में बसती है, और इसलिए समावेशी शिक्षा के किसी भी समाजशास्त्रीय विश्लेषण के लिए ग्रामीण भारत में परिवार, माता-पिता और समुदाय के दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है।

1 परिवार: समाजीकरण का प्राथमिक अभिकरण

सुरिंदर कौर (2015) ने पंजाब विश्वविद्यालय से "विकलांग बच्चे का सामाजिकरण: पंजाब के परिवारों का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन" विषय पर अपना शोध प्रस्तुत किया। परिवार एक बच्चे के लिए समाजीकरण का प्राथमिक अभिकरण होता है। कौर का अध्ययन इस बात पर प्रकाश डालता है कि जब एक परिवार में दिव्यांग बच्ची का जन्म होता है, तो परिवार की प्रारंभिक प्रतिक्रिया अक्सर सदमे, शोक या अपराधबोध की होती है।

पंजाब जैसे राज्य में, जहाँ बेटे की चाहत ऐतिहासिक रूप से बहुत प्रबल रही है, एक लड़की का जन्म ही कई परिवारों में निराशा का कारण बनता है। जब वह लड़की विकलांग होती है, तो यह निराशा उपेक्षा में बदल जाती है। कौर के निष्कर्ष बताते हैं कि परिवार अनजाने में या जानबूझकर बच्ची के सामाजिकरण की प्रक्रिया को सीमित कर देते हैं। उसे सार्वजनिक समारोहों में ले जाने से बचा जाता है, और उसकी दुनिया घर के एक कमरे तक सीमित कर दी जाती है। यह पारिवारिक अलगाव बच्ची के भीतर जन्म से ही हीन भावना भर देता है, जिससे उसके भीतर स्कूल जाने या समाज का सामना करने का आत्मविश्वास ही विकसित नहीं हो पाता।

2 समुदाय का दृष्टिकोण और पितृसत्तात्मक मानदंड

उमा शर्मा (2016) ने राजस्थान विश्वविद्यालय से "ग्रामीण राजस्थान में विकलांग लड़कियों के प्रति समुदाय का दृष्टिकोण" विषय पर गहन शोध किया। शर्मा के निष्कर्षों का समाजशास्त्रीय महत्व बहुत गहरा है। ग्रामीण राजस्थान, जहाँ सामंती और पितृसत्तात्मक मूल्य आज भी समाज को निर्देशित करते हैं, वहाँ एक दिव्यांग बालिका को पूरी तरह से 'आर्थिक और सामाजिक बोझ' माना जाता है।

शर्मा के अध्ययन में यह बात सामने आई है कि भील जैसी जनजातीय समुदायों और अन्य ग्रामीण वर्गों में लड़कियों की शादी किशोरावस्था में ही कर देने की प्रथा आज भी कायम है। गरीबी, पितृसत्तात्मक मानदंड और जल्दी शादी की परंपरा लड़कियों को शिक्षा

से दूर रखती है। जब कोई लड़की दिव्यांग होती है, तो समुदाय का मानना होता है कि यह लड़की 'पराए घर' जाकर भी कोई शारीरिक श्रम या घरेलू कार्य नहीं कर पाएगी, इसलिए कोई भी परिवार उसे बहू के रूप में स्वीकार नहीं करेगा। विवाह की इस 'अयोग्यता' के कारण, माता-पिता को लगता है कि उसे पढ़ाना भी निरर्थक है।

सुब्रमण्यम, वी. द्वारा "ग्रामीण भारत में विकलांग लड़कियों की समावेशी शिक्षा के प्रति माता-पिता और शिक्षकों का दृष्टिकोण" पर किए गए शोध से भी शर्मा के निष्कर्षों को बल मिलता है। ग्रामीण माता-पिता अक्सर शिक्षा को आजीविका से जोड़कर देखते हैं। चूंकि वे एक दिव्यांग लड़की के लिए बाहर जाकर काम करने की कल्पना नहीं कर पाते, इसलिए उनका दृष्टिकोण उसकी शिक्षा के प्रति पूरी तरह से उदासीन हो जाता है। सुब्रमण्यम का अध्ययन यह भी दर्शाता है कि ग्रामीण शिक्षकों में भी इसी समुदाय के मूल्य रचे-बसे होते हैं, जिसके कारण वे भी इन बालिकाओं पर अतिरिक्त ध्यान देने को समय की बर्बादी मानते हैं।

3 शिक्षा का व्यापारीकरण और ग्रामीण गरीब

सरोज (2015) ने कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय से "ग्रामीण क्षेत्रों में विकलांग बालिकाओं की शैक्षिक स्थिति और समस्याएं" विषय पर अपना शोध प्रस्तुत किया। सरोज के अनुसार, वर्तमान नव-उदारवादी युग में शिक्षा पूरी तरह से एक 'कमोडिटी' या वस्तु बन गई है, जिसे निजी संस्थानों द्वारा बेचा जा रहा है।

निजी स्कूल उच्च कोटि की सुविधाएं और बुनियादी ढांचा प्रदान करते हैं, लेकिन उनकी फीस इतनी अधिक होती है कि गरीब ग्रामीण परिवार उसका वहन नहीं कर सकते।¹⁹ दूसरी ओर, सरकारी स्कूल, जो मुफ्त शिक्षा प्रदान करते हैं, वहां सुविधाओं का भारी अभाव है। ग्रामीण दिव्यांग बालिकाओं के मामले में यह स्थिति और भी विकट हो जाती है। माता-पिता अपनी सीमित आय का उपयोग लड़कों (सक्षम या विकलांग) की शिक्षा पर करना पसंद करते हैं, जबकि दिव्यांग बालिकाओं को अक्सर नियति के भरोसे छोड़ दिया जाता है। सरोज का शोध स्पष्ट रूप से ग्रामीण भारत में राज्य के कल्याणकारी स्वरूप की विफलता को इंगित करता है।

विद्यालयी पर्यावरण: शिक्षक, सहपाठी और ढांचागत बाधाएं

एक बार जब कोई दिव्यांग बालिका पारिवारिक और सामाजिक बाधाओं को पार करके समावेशी स्कूल तक पहुँच भी जाती है, तो विद्यालय के भीतर का पर्यावरण एक नई लड़ाई का मैदान बन जाता है। इस पर्यावरण के दो प्रमुख घटक हैं: शिक्षक और सहपाठी।

1 शिक्षकों की भूमिका, अभिवृत्ति और 'सहायक तकनीक' का संकट

ए. बालसुंदरम (2011) का शोध "समावेशी स्कूलों में विशेष आवश्यकता वाले बच्चों को पढ़ाने वाले शिक्षकों की अभिवृत्ति, भूमिका प्रदर्शन और उनके सामने आने वाली समस्याएं" (पेरियार विश्वविद्यालय) इस संदर्भ में सबसे प्रामाणिक दस्तावेज है।

बालसुंदरम के मात्रात्मक और गुणात्मक विश्लेषण से यह तथ्य सामने आता है कि समावेशी शिक्षा के प्रति शिक्षकों का दृष्टिकोण 'सकारात्मक से मध्यम' के बीच रहता है।²¹ यद्यपि शिक्षक सैद्धांतिक रूप से दिव्यांग बच्चों को पढ़ाने के खिलाफ नहीं हैं, लेकिन व्यावहारिक रूप से वे स्वयं को पूरी तरह से असहाय और अक्षम पाते हैं। इसका सबसे बड़ा कारण विशेष शिक्षा के प्रशिक्षण का अभाव है। बालसुंदरम (2014 के प्रकाशित पेपर) और अन्य अध्ययनों के निष्कर्षों के आधार पर यह स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है कि समावेशी स्कूलों में सहायक तकनीक का अभाव सबसे बड़ी बाधाओं में से एक है।¹⁰ सहायक तकनीक (जैसे- ब्रेल डिस्प्ले, स्क्रीन रीडर, हियरिंग एड्स, या मोबिलिटी डिवाइस) दिव्यांग बालिकाओं को उनकी संज्ञानात्मक और शारीरिक विकलांगता से निपटने में सक्षम बनाती है।¹⁰ लेकिन बालसुंदरम के शोध के अनुसार, स्कूलों में न केवल इन उपकरणों की कमी है, बल्कि उससे भी बड़ी समस्या यह है कि "शिक्षकों को इन सहायक उपकरणों को संभालने या संचालित करने का कोई ज्ञान ही नहीं है"।

समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से, जब एक शिक्षक कक्षा में सहायक तकनीक का उपयोग करने में असमर्थ होता है, तो वह अनजाने में दिव्यांग बालिका को कक्षा की मुख्य शैक्षणिक प्रक्रिया से बाहर कर देता है। यह शैक्षिक बहिष्करण बालिका के भीतर कुंठा पैदा करता है।

2 सहपाठी स्वीकृति और सामाजिक व्यवहार

एस. सी. आशा (2015) ने बेंगलूर विश्वविद्यालय से "संवेदी रूप से विकलांग बच्चों की सहपाठी स्वीकृति के संबंध में समावेशी शिक्षा के वातावरण में बच्चों के बीच सामाजिक व्यवहार" पर अपना शोध प्रस्तुत किया। आशा का अध्ययन इस मिथक को तोड़ता है कि केवल बच्चों को एक साथ बैठा देने से उनमें सहिष्णुता विकसित हो जाती है।

शोध के निष्कर्ष बताते हैं कि समावेशी कक्षाओं में 'संवेदी रूप से विकलांग' (जैसे दृष्टि या श्रवण बाधित) बच्चों को सामान्य बच्चों द्वारा आसानी से स्वीकार नहीं किया जाता है। खेल के मैदान में या समूह कार्यों में, सामान्य बच्चे अक्सर दिव्यांग बालिकाओं को अपने समूह में शामिल करने से कतराते हैं, क्योंकि उन्हें लगता है कि इससे उनके खेल की गति या प्रदर्शन प्रभावित होगा। सहपाठियों द्वारा यह निरंतर

अस्वीकृति दिव्यांग बालिकाओं में गहरे अलगाव और हीन भावना को जन्म देती है, जो अंततः उनके शैक्षणिक प्रदर्शन को भी गिरा देती है।

विशिष्ट विकलांगताओं के आधार पर लैंगिक और मनोवैज्ञानिक चुनौतियां विकलांगता कोई एक समान अनुभव नहीं है। विकलांगता की प्रकृति के आधार पर बालिकाओं के सामाजिक और मनोवैज्ञानिक संघर्ष भी अलग-अलग होते हैं। साहित्य सर्वेक्षण में दृष्टिबाधिता, श्रवणबाधिता और अस्थिबाधिता पर किए गए विशिष्ट अध्ययनों का मूल्यांकन किया गया है।

1 दृष्टिबाधित बालिकाएं: सामाजिक बाधाएं और मनोवैज्ञानिक समायोजन

तनुश्री भट्टाचार्य (2010) ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से "दृष्टिबाधित बालिकाओं की शिक्षा में सामाजिक बाधाएं: पश्चिम बंगाल में एक अध्ययन" पर अपना शोध प्रस्तुत किया। दृष्टिबाधित बालिकाओं के लिए सबसे बड़ी चुनौती 'गतिशीलता' और 'शारीरिक सुरक्षा' की होती है। भट्टाचार्य का शोध दर्शाता है कि समाज और माता-पिता दृष्टिबाधित बालिकाओं के प्रति एक 'अति-सुरक्षात्मक' रवैया अपनाते हैं। इस सुरक्षा के नाम पर उन्हें घर से बाहर निकलने, अकेले यात्रा करने या बाहरी दुनिया का अनुभव करने से रोक दिया जाता है²⁵। यह दृष्टिकोण उनकी स्वायत्तता को नष्ट कर देता है।

सुष्मिता मोंडल (2014) ने इसी विषय को आगे बढ़ाते हुए "दृष्टिबाधित महिलाओं का सामाजिक समायोजन" पर शोध किया। हेलेन केलर के प्रसिद्ध उद्धरण ("अंधापन कोई बोझ नहीं है, बल्कि अंधों के प्रति देखने वालों का रवैया सहन करने के लिए सबसे कठिन बोझ है") का संदर्भ देते हुए, मोंडल स्पष्ट करती हैं कि समावेशी शिक्षा में दृष्टिबाधित बच्चे अनूठी चुनौतियों का सामना करते हैं।

मोंडल के समाजशास्त्रीय विश्लेषण के अनुसार, सामान्य बच्चे समाज में बहुत सी चीजें दूसरों को देखकर सीखते हैं, जैसे कि सीढ़ियां चढ़ना या सामाजिक व्यवहार करना। दृष्टिबाधित बालिकाएं इस दृश्य अधिगम से पूरी तरह वंचित रह जाती हैं। इसके परिणामस्वरूप, उन्हें अपने 'पारस्परिक कौशल' विकसित करने में भारी कठिनाई होती है। सामान्य बच्चों की तुलना में दृष्टिबाधित बालिकाओं के दोस्त बहुत कम होते हैं और उन्हें समाजीकरण के अवसर भी कम मिलते हैं। टटल और टटल (2004) के अध्ययन का समर्थन करते हुए मोंडल यह स्थापित करती हैं कि ये बालिकाएं अक्सर सामाजिक रूप से अपरिपक्व और आत्मकेंद्रित रह जाती हैं।

आर. कौर ने "समावेशी स्कूलों में दृष्टिबाधित किशोरियों की मनो-सामाजिक समस्याओं" का अध्ययन किया। मनोवैज्ञानिक कल्याण से संबंधित अध्ययनों से यह बात सामने आई है कि दृष्टिबाधित किशोरियों में चिंता का स्तर लड़कों की तुलना में काफी अधिक होता है²⁸। समावेशी स्कूलों के प्रतिस्पर्धी माहौल में, जहां रूप-रंग और शारीरिक सुंदरता को बहुत महत्व दिया जाता है, दृष्टिबाधित किशोरियां अक्सर गंभीर मनोवैज्ञानिक तनाव और अवसाद का शिकार हो जाती हैं²⁸।

2 श्रवणबाधित बालिकाएं: संचार का संकट

दीपा, एल. (2012) ने "श्रवणबाधित किशोरियों की मनो-सामाजिक समस्याओं" पर अपना शोध प्रस्तुत किया। एक श्रवणबाधित बालिका के लिए सबसे बड़ी बाधा 'संचार' की होती है। समावेशी स्कूलों में शिक्षा का प्राथमिक माध्यम मौखिक (Verbal) होता है। जब शिक्षक बोलकर पढ़ाते हैं और ब्लैकबोर्ड की ओर मुंह करके समझाते हैं, तो श्रवणबाधित बालिकाएं होंठ पढ़ने (Lip-reading) में भी असमर्थ हो जाती हैं।

दीपा के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि संचार की इस भारी खाई के कारण ये बालिकाएं कक्षा में स्वयं को पूरी तरह से कटा हुआ महसूस करती हैं। सांकेतिक भाषा के जानकार शिक्षकों का अभाव उनके इस अलगाव को एक सजा में बदल देता है। संचार की असमर्थता के कारण वे अपनी भावनाओं को व्यक्त नहीं कर पातीं, जिससे उनके भीतर अत्यधिक कुंठा, क्रोध और व्यवहार संबंधी समस्याएं जन्म लेने लगती हैं।

3 अस्थिबाधित बालिकाएं: आकांक्षाएं बनाम भौतिक यथार्थ

अनीता रानी (2013) ने महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय से "हरियाणा में अस्थिबाधित लड़कियों की शैक्षिक आकांक्षाएं और समस्याएं" विषय पर अपना शोध किया। अक्सर यह मान लिया जाता है कि जो बच्चे शारीरिक रूप से विकलांग हैं, उनकी कोई बड़ी महत्वाकांक्षाएं नहीं होतीं। रानी का शोध इस पूर्वाग्रह को पूरी तरह से ध्वस्त करता है।

अध्ययन के निष्कर्ष बताते हैं कि अस्थिबाधित बालिकाओं की शैक्षिक और व्यावसायिक आकांक्षाएं सामान्य बालिकाओं के समान ही उच्च होती हैं³⁰। वे भी उच्च शिक्षा प्राप्त करना चाहती हैं और आत्मनिर्भर बनना चाहती हैं। लेकिन उनकी इन आकांक्षाओं का गला समाज की ढांचागत कमियों द्वारा घोंट दिया जाता है। समावेशी स्कूलों में रैंप का न होना, व्हीलचेयर ले जाने के लिए उचित मार्गों की कमी, और सबसे बढ़कर विकलांग-अनुकूल शौचालयों का नितांत अभाव, उनके आत्मसम्मान को चकनाचूर कर देता है³¹।

आर. शर्मा (2013) द्वारा "अस्थिबाधित किशोरियों की मनो-सामाजिक समस्याओं" पर किए गए शोध से एक और महत्वपूर्ण पहलू उजागर होता है। किशोरावस्था में 'बॉडी इमेज' का महत्व चरम पर होता है। अस्थिबाधित बालिकाओं को अपनी शारीरिक विकृति (Deformity) के कारण लगातार साथियों की घूरती नजरों और उपहास का सामना करना पड़ता है। यह सामाजिक कलंक (Social Stigma) उन्हें इतना अंतर्मुखी बना देता है कि कई बालिकाएं स्कूल जाना ही छोड़ देती हैं।

विकलांगता का प्रकार	प्रमुख शोधकर्ता	विशिष्ट लैंगिक और शैक्षिक चुनौतियां	मनोवैज्ञानिक प्रभाव
दृष्टिबाधिता	भट्टाचार्य (2010), मॉडल (2014), आर. कौर	अति-सुरक्षात्मक रवैया, दृश्य-अधिगम का अभाव, कम समाजीकरण।	आत्मकेंद्रित व्यवहार, उच्च चिंता, अपर्याप्त पारस्परिक कौशल।
श्रवणबाधिता (Hearing Impairment)	दीपा, एल. (2012)	मौखिक शिक्षा प्रणाली में संचार की पूर्ण विफलता, सांकेतिक भाषा का अभाव।	अलगाव, कुंठा, अपनी बात न कह पाने का क्रोध।
अस्थिबाधिता (Orthopaedic Impairment)	रानी (2013), आर. शर्मा (2013)	उच्च आकांक्षाओं के बावजूद रैंप, परिवहन और विशेष शौचालयों का अभाव।	'बॉडी इमेज' की चिंता, गतिहीनता के कारण हीन भावना।

जाति, वर्ग और राज्य की प्रतिच्छेदी गतिशीलता

भारत में कोई भी समाजशास्त्रीय विश्लेषण जाति और वर्ग की संरचनाओं को नजरअंदाज करके पूर्ण नहीं हो सकता।

1 अनुसूचित जाति की दिव्यांग बालिकाएं: वंचना का सबसे निचला स्तर

अनुपम बर्मन (2015) ने गौहाटी विश्वविद्यालय से "असम में विकलांगता से ग्रस्त अनुसूचित जाति की बालिकाओं की शैक्षिक स्थिति" पर एक अत्यंत मार्मिक शोध प्रस्तुत किया। भारत में अनुसूचित जाति की आबादी ऐतिहासिक रूप से छुआछूत, भूमिहीनता और शैक्षिक वंचना का शिकार रही है।

बर्मन के शोध के अनुसार, जब इस पहले से ही हाशिए पर मौजूद समुदाय में एक बालिका जन्म लेती है, और वह भी विकलांगता के साथ, तो यह 'तिहरे हाशिएकरण' का सबसे क्रूर रूप होता है। बर्मन का अध्ययन इस बात को स्पष्ट करता है कि अनुसूचित जाति के परिवारों में गरीबी और कुपोषण का स्तर इतना अधिक होता है कि गर्भवती महिलाओं को उचित स्वास्थ्य सुविधाएं नहीं मिल पातीं। रक्ताल्पता और प्रसव के दौरान उचित देखभाल की कमी जन्मजात विकलांगताओं का एक बड़ा कारण बनती है।

इन बालिकाओं के लिए 'समावेशी शिक्षा' की बात करना एक विडंबना है, क्योंकि इनके परिवारों के पास दो वक्त के भोजन का ही प्रबंध नहीं होता। नीतिका मेहरोत्रा के शोध आंकड़े भी यह बताते हैं कि 2018 में SC/ST वर्ग के दिव्यांग लोगों की संख्या लाखों में थी, फिर भी भारत में विकलांगता से संबंधित कानूनों और कल्याणकारी योजनाओं में इस वर्ग के लिए कोई विशेष आरक्षण या अतिरिक्त वित्तीय प्रावधान नहीं किए गए हैं। समावेशी शिक्षा की यह 'जाति-अंधी' नीति सबसे शोषित वर्ग की बालिकाओं को व्यवस्था से पूरी तरह बाहर कर देती है।

2 राज्य और कृषि-अर्थव्यवस्था का प्रभाव

नीरजा (2016) ने महर्षि दयानंद विश्वविद्यालय से "विकलांगता, जेंडर और राज्य: हरियाणा में शारीरिक रूप से विकलांग महिलाओं का एक समाजशास्त्रीय अध्ययन" विषय पर शोध किया। हरियाणा एक ऐसा राज्य है जिसकी अर्थव्यवस्था कृषि प्रधान है और सामाजिक संरचना खाप पंचायतों और कठोर पितृसत्ता से निर्देशित होती है।

कृषि-अर्थव्यवस्था में शारीरिक श्रम को सबसे बड़ी संपत्ति माना जाता है। एक सक्षम शरीर वाली महिला से भी उम्मीद की जाती है कि वह खेतों में काम करे, पशुओं की देखभाल करे और घर का सारा बोझ उठाए। ऐसे समाज में, जब एक महिला अस्थिबाधित या दृष्टिबाधित होती है, तो उसे पूरी तरह से 'उपयोगिताहीन' घोषित कर दिया जाता है। नीरजा का शोध यह दर्शाता है कि राज्य सरकार की नीतियां कागजों पर चाहे कितनी भी प्रगतिशील क्यों न हों, वे इन गहरी सांस्कृतिक और आर्थिक जड़ों को हिलाने में विफल रही हैं।

उच्च शिक्षा और आर्थिक स्वावलंबन की संभावनाएं

समावेशी शिक्षा का अंतिम लक्ष्य केवल स्कूली शिक्षा पूरी करना नहीं है, बल्कि बालिकाओं को उच्च शिक्षा और अंततः आर्थिक स्वावलंबन की ओर ले जाना है। लेकिन इस मोर्चे पर भी निराशाजनक परिणाम सामने आते हैं।

1 उच्च शिक्षा में शून्य अवसर

एस. हाल्देर (2009) ने कलकत्ता विश्वविद्यालय से "विकलांग महिलाओं की उच्च शिक्षा की संभावनाएं: पश्चिम बंगाल में एक अध्ययन" विषय पर शोध किया। हाल्देर के निष्कर्ष बताते हैं कि स्कूली स्तर पर समावेशी शिक्षा के जो थोड़े-बहुत प्रयास किए भी जाते हैं, वे उच्च शिक्षा के स्तर पर आकर पूरी तरह से समाप्त हो जाते हैं। विश्वविद्यालयों का बुनियादी ढांचा, पुस्तकालय और पाठ्यक्रम दिव्यांग महिलाओं के अनुकूल बिल्कुल नहीं होते। इसके अलावा, कॉलेजों में पहुंचने तक लड़कियों पर विवाह का दबाव इतना अधिक हो जाता है कि उच्च शिक्षा उनके लिए एक असंभव स्वप्न बन जाती है।

2 आर्थिक शोषण और रूढ़िवादी रोजगार

आशिया (2016) का कश्मीर घाटी पर किया गया अध्ययन आर्थिक स्वावलंबन की कड़वी सच्चाई को उजागर करता है। आशिया के अनुसार, दिव्यांग महिलाओं के लिए आधुनिक श्रम बाजार के दरवाजे लगभग बंद हैं। रोजगार में उन्हें भारी भेदभाव का सामना करना पड़ता है। उन्हें स्वयं का व्यवसाय शुरू करने में पूंजी और कच्चे माल की प्राप्ति में कई गुना अधिक संघर्ष करना पड़ता है।

परिणामस्वरूप, सदियों से चली आ रही परंपराओं के अनुसार, आज भी दिव्यांग महिलाओं को घर की चारदीवारी के भीतर किए जाने वाले अत्यधिक कम आय वाले और उबाऊ कार्यों में धकेल दिया जाता है, जैसे - टोकरी बनाना, सिलाई करना, खिलौने जोड़ना या हाथ से बुनाई करना। समावेशी शिक्षा प्रणाली उन्हें 21वीं सदी के तकनीकी और संज्ञानात्मक कौशल प्रदान करने में पूरी तरह विफल रही है, जिसके कारण वे जीवन भर आर्थिक निर्भरता और गरीबी के दुष्चक्र में फंसी रहती हैं।

3 शारीरिक और मानसिक शोषण की भेद्यता

इस आर्थिक और सामाजिक अलगाव का सबसे खौफनाक पहलू है शोषण। आशिया और सरोज के अध्ययनों का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट होता है कि आर्थिक निर्भरता और शारीरिक अक्षमता दिव्यांग बालिकाओं को शारीरिक और यौन दुर्व्यवहार के प्रति अत्यधिक संवेदनशील बना देती है। समाज, और कई बार परिवार के सदस्य भी, उनकी असहायता का अनुचित लाभ उठाते हैं। उन्हें इस बात का एहसास करा दिया जाता है कि उनका जीवन दूसरों की दया पर निर्भर है।

निष्कर्ष और समाजशास्त्रीय विमर्श

प्रस्तुत साहित्य सर्वेक्षण के अंतर्गत भारत के विभिन्न विश्वविद्यालयों द्वारा शोध प्रबंधों के माध्यम से किए गए विस्तृत समाजशास्त्रीय विश्लेषण से यह अकाट्य रूप से सिद्ध होता है कि "समावेशी शिक्षा" वर्तमान भारतीय संदर्भ में अपने मूल उद्देश्य को प्राप्त करने में विफल रही है, विशेषकर जब बात दिव्यांग बालिकाओं की आती है। इन शोध कार्यों का समग्र निष्कर्ष निम्नलिखित प्रमुख बिंदुओं में संकलित किया जा सकता है:

1. **ढांचागत विफलता से अधिक वैचारिक विफलता:** यादव (2017), जोहरी (2014) और बबला (2017) के अध्ययनों ने यह साबित कर दिया है कि समावेशी स्कूलों में रैंप या विशेष शिक्षकों की कमी निश्चित रूप से एक समस्या है, लेकिन सबसे बड़ी बाधा स्कूलों का 'प्रतिस्पर्धी' और 'पूंजीवादी' रवैया है। जब शिक्षण संस्थान एक दिव्यांग बालिका के प्रवेश को अपनी 'गुडविल' या प्रतिष्ठा के लिए खतरा मानने लगे, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि शिक्षा का अधिकार अधिनियम केवल कागजों तक ही सीमित है।

2. **प्रतिच्छेदन की अनदेखी:** मेहरोत्रा (2011) और बर्मन (2015) के शोधों ने यह स्थापित किया है कि भारत की समावेशी शिक्षा नीतियां 'जेंडर-ब्लाइंड' और 'कास्ट-ब्लाइंड' हैं। राज्य यह समझने में विफल रहा है कि एक उच्च-वर्गीय सक्षम बालक और एक दलित दृष्टिबाधित बालिका की आवश्यकताएं समान नहीं हो सकतीं। जब तक नीतियों में इस 'दोहरे/तिहरे हाशिएकरण' को लक्षित (Target) नहीं किया जाएगा, तब तक समावेशी शिक्षा का कोई अर्थ नहीं है।

3. **संस्थागत जेंडर और पितृसत्ता का प्रभुत्व:** आशिया (2016) और शर्मा, उमा (2016) के निष्कर्ष स्पष्ट करते हैं कि एक पितृसत्तात्मक समाज में महिला का मूल्य उसकी सुंदरता, विवाह और बच्चे पैदा करने की क्षमता से तय होता है। एक दिव्यांग बालिका को इन पैमानों पर 'अनुत्पादक' और 'अयोग्य' माना जाता है, जिसके कारण परिवार और समुदाय उसकी शिक्षा पर होने वाले निवेश को पूरी तरह से व्यर्थ मानते हैं। यह संस्थागत जेंडर स्कूलों के भीतर भी सक्रिय रहता है, जो उन्हें मुख्यधारा से अलग-थलग कर देता है।

4. **सहायक तकनीक और शिक्षक प्रशिक्षण का संकट:** बालसुंदरम (2011) का शोध यह चेतावनी देता है कि मात्र स्कूलों में दिव्यांग बच्चों का नामांकन कर लेना ही समावेशी शिक्षा नहीं है। जब तक शिक्षकों को विशेष शिक्षा के मनोविज्ञान और विशेष रूप से सहायक तकनीक को संचालित करने का गहन प्रशिक्षण नहीं दिया जाएगा, तब तक शिक्षक स्वयं भी कुंठित रहेंगे और दिव्यांग बच्चे भी शिक्षा की मुख्यधारा से कटे रहेंगे।

5. मनोवैज्ञानिक और सामाजिक समायोजन: मॉडल (2014), दीपा (2012) और आशा (2015) के शोध इस अदृश्य त्रासदी को सामने लाते हैं कि समावेशी कक्षाएं अक्सर इन बालिकाओं के लिए एक मनोवैज्ञानिक यातना-गृह बन जाती हैं। साथियों द्वारा अस्वीकृति, संवाद की कमी और हीन भावना उनके भीतर गहरा अवसाद और चिंता पैदा करती है।

अंतिम विचार

इन सभी शोध प्रबंधों का सम्मिलित समाजशास्त्रीय संदेश यह है कि समावेशी शिक्षा कोई यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है जिसे केवल स्कूल भवनों और आदेशों के माध्यम से लागू किया जा सके। इसके लिए संपूर्ण समाज के दृष्टिकोण में एक आमूलचूल परिवर्तन (Radical shift) की आवश्यकता है। विकलांगता के 'चिकित्सीय मॉडल' से आगे बढ़कर जब तक हम इसे मानवाधिकार और सामाजिक न्याय के 'सामाजिक मॉडल' के रूप में पूर्णतः आत्मसात नहीं करेंगे, तब तक समावेशी शिक्षा में एक दिव्यांग बालिका का संघर्ष केवल कागजी नीतियों और जमीनी यथार्थ के बीच की एक अंतहीन त्रासदी ही बना रहेगा। भविष्य के शोध और नीति निर्माण को सहानुभूति के बजाय समानुभूति और सशक्तिकरण पर आधारित होना चाहिए।

संदर्भ सूची

- 1 आशिया. (2016). दिव्यांग महिलाओं का सामाजिक बहिष्कार: कश्मीर घाटी में एक सोशियोलॉजिकल स्टडी।
- 2 आशा, एस. सी. (2015). सेंसरी चैलेंज बच्चों की साथियों की स्वीकृति के संबंध में समावेशी शिक्षा के माहौल में बच्चों के बीच सामाजिक व्यवहार।
- 3 बाबला, के. (2017). अरुणाचल प्रदेश में एलिमेंट्री स्कूल स्टेज पर समावेशी शिक्षा: एक क्रिटिकल स्टडी।
- 4 बालासुंदरम, ए. (2011). समावेशी स्कूलों में स्पेशल ज़रूरतों वाले बच्चों को पढ़ाने वाले टीचरों का रवैया, रोल परफॉर्मेंस और समस्याएँ।
- 5 बरमन, ए. (2015). असम में दिव्यांग अनुसूचित जाति की लड़कियों की एजुकेशनल स्थिति।
- 6 भट्टाचार्य, टी. (2010). दृष्टिबाधित लड़कियों की शिक्षा में सामाजिक रुकावटें: पश्चिम बंगाल में एक स्टडी।
- 7 दास, पी. स्पेशल ज़रूरतों वाले बच्चों की शिक्षा में जेंडर असमानता: एक एनालिटिकल स्टडी।
- 8 दीपा, एल. (2012). सुनने में दिक्कत वाली किशोर लड़कियों की साइको-सोशल समस्याएँ।
- 9 हलदर, एस. (2009). दिव्यांग महिलाओं की हायर एजुकेशन की संभावनाएं: पश्चिम बंगाल में एक स्टडी।
- 10 जोहरी, जे. (2014). स्पेशल ज़रूरतों वाले बच्चों के लिए इनक्लूसिव एजुकेशन: दिल्ली में पॉलिसी और प्रैक्टिस की एक स्टडी।
- 11 कौर, आर. इनक्लूसिव स्कूलों में देखने में दिक्कत वाली किशोर लड़कियों की साइको-सोशल प्रॉब्लम।
- 12 कौर, एस. (2015). दिव्यांग बच्चे का सोशल इंजेशन: पंजाब में परिवारों की एक सोशियोलॉजिकल स्टडी।
- 13 कुमार, जी. स्कूलों में दिव्यांग बच्चों के सोशल एक्सक्लूजन और इनक्लूजन की एक स्टडी।
- 14 मीरा, एस. लड़कियों के खास रेफरेंस के साथ दिव्यांग बच्चों की एजुकेशनल स्टेटस: एक सोशियोलॉजिकल स्टडी।
- 15 मेहरोत्रा, एन. (2011). दिव्यांगता, जेंडर और जाति: भारतीय संदर्भ में इंटरसेक्शन।
- 16 मंडल, एस. (2014). देखने में दिक्कत वाली महिलाओं का सोशल एडजस्टमेंट।
- 17 नीरजा. (2016). दिव्यांगता, जेंडर और राज्य: हरियाणा में फिजिकली चैलेंज महिलाओं की एक सोशियोलॉजिकल स्टडी।
- 18 रानी, ए. (2013). हरियाणा में ऑर्थोपेडिकली चैलेंज लड़कियों की एजुकेशनल उम्मीदें और प्रॉब्लम्स।
- 19 सरोज. (2015). दिव्यांग लड़कियों की एजुकेशनल स्थिति और प्रॉब्लम्स: ग्रामीण इलाकों में एक स्टडी।
- 20 शर्मा, आर. (2013). ऑर्थोपेडिकली चैलेंज टीनएज लड़कियों की साइको-सोशल प्रॉब्लम्स।
- 21 शर्मा, यू. (2016). ग्रामीण राजस्थान में दिव्यांग लड़कियों के प्रति कम्युनिटी का रवैया।
- 22 सुब्रमण्यम, वी. ग्रामीण भारत में दिव्यांग लड़कियों की इनक्लूसिव एजुकेशन के प्रति पेरेंट्स और टीचर्स का रवैया।
- 23 यादव, एस. (2017). इनक्लूसिव एजुकेशन: उत्तर प्रदेश में ज़मीनी हकीकत और जेंडर असमानता की एक स्टडी।